INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS
VOLUME 2, ISSUE 10 October, 2014
ISSN-2320-2882
ORIGINAL ARTICLE

श्रीमद् भगवद्गीता में आचार शिक्षण

डॉ. जितेन्द्र शर्मा
एसो.प्रोफेसर-दर्शनशास्त्र
म.गाँ.चि.ग्रा.वि.वि., चित्रकूट

आलेख सार

सर्वशास्त्रमयी श्रीमद् भगवद्गीता के प्रत्यक्षर मानव के कर्तव्यपंथ के निदर्शन हेतु महामन्त्र सदृश हैं। आखिरकार कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विनिश्चय की पृष्ठभूमि में ही गीता दर्शन का आविर्भाव हुआ है। अर्जुन जैसा महान शिष्य माया मोह में आसक्त होकर जब कर्त्तव्य से विमुख होने लगा तो विश्वगुरू कृष्ण ने अर्जुन के बहाने से सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याणार्थ गीता के नीतिशास्त्र की विवेचना की। गीता के 'कर्मयोग' सिद्धांत से जहाँ हमें एकतरफ कर्म साधना की प्रेरणा मिलती है वहीं दूसरी तरफ कर्म (शारीरिक श्रम) के प्रति निष्ठा का भाव भी जागृत होता है। परिणामत: समाज में व्याप्त वर्णवैषम्य और वर्ग वैषम्य का स्वयमेव मूलोच्छेदन हो जाता है। वर्ण-विभाजन को भागवत सृष्टि एवं गुण और कर्म पर आधारित करके कृष्ण ने वर्णवैषम्यजन्यविद्वेषाग्नि का सदा-सर्वदा के लिये शमन कर दिया। दैवी और आसुरी सम्पदा के विवेचन के माध्यम से गीतानायक कृष्ण ने नैतिक सद्गुणों और असद्गुणों का सार्वभौमिक निदर्शन किया है जिनको व्यवहृत कर कोई भी जाति, धर्म या सम्प्रदाय किसी भी काल में श्रेष्ठता, सुख और शान्ति के शिखर पर आरूढ़ हो सकती है। गीता में वर्णित नैतिक मूल्य अद्यापि सम्पूर्ण मानव जाति के लिये ऊर्जास्पद और क्षेमकर हैं।

सर्वशास्त्रमयी श्रीमद्भगवद्गीता-एक दिव्य आर्ष ग्रन्थ जिसमें भारतीय दर्शन, धर्म और आचार (चरित्र) के महनीय मूल्यों का सर्वोत्तम निदर्शन है। समस्त शास्त्रों के मंथन से अमृतमयी गीता का आविर्भाव हुआ है। सम्प्रदाय, जाति और देश की भिन्नता का निराकरण करने वाला गीता एक सार्वभौम सिद्धांत प्रतिपादक ग्रन्थ रत्न है। उसके उपदेश और निर्दिष्ट साधनों ने मानव जाति के लिये एक महान धर्म की नींव डाली। उसके प्रचार से प्राणिमात्र का कल्याण सम्भव है। हृदय दौर्बल्य पर विजयी होकर गीतोक्त उपदेश से मनुष्य कर्मरत हो सकता है, वह भक्तिरसामृत का आस्वादन करता हुआ ज्ञानी बन सकता है। ऐहिक और पारमार्थिक दोनों ही सुखों की प्राप्ति उसे अल्प प्रयास से ही उपलब्ध होने में कोई संदेह नहीं रहता। आधुनिक काल में जो अनेकानेक जटिल प्रश्न नित्य प्रति समाज और व्यक्ति के समक्ष उपस्थित होते रहते हैं और बुद्धि को चकरा देते हैं, उनके सुलझाने के लिये गीता में पर्याप्त सामग्री विद्यमान है।[१] जहाँ तक स्वयं गीतानायक कृष्ण का प्रश्न है श्रीकृष्ण यानी बुद्धिमत्ता, चातुर्य, युद्धनीति, आकर्षण, प्रेम भाव,

गुरुत्व, सुख दु:ख और न जाने और क्या-क्या सब कुछ तो समाया है लीला बिहारी के अनुपम दैवी व्यक्तित्व में। परमात्मा की सम्पूर्ण प्रतिभा का सर्वोत्तम और उच्चतम प्राकट्य है कृष्ण। एक भक्त के लिये श्रीकृष्ण भगवान तो हैं ही साथ में वे विषयासक्त संसारी जीवों को जीवन जीने की कला भी सिखाते हैं। आइये, इस आलेख के माध्यम से हम गीता की चरित्र मीमांसा अर्थात् नैतिक दर्शन पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डालें-

राष्ट्रीय सन्दर्भ में यदि हम चर्चा करें तो कार्य संस्कृति का अभाव या ह्रास हमारे देश की साम्प्रतिक ज्वलंततम समस्या है। जिसने प्रकारान्तर से भ्रष्टाचार और परिग्रह को बढ़ावा दिया है। अधुना देश की युवा शक्ति को अकर्मण्यता का घुन लग गया है। गांधी और गौतम के इस देश में शारीरिक श्रम के प्रति न केवल निष्ठा का भाव ही समाप्त होता जा रहा है बल्कि इसे हेय दृष्टि से भी देखा जा रहा है। अकर्मण्यता और दरिद्रता में चोली दामन का साथ है। ''उद्योगिनं पुरुषं सिंहमुपैति लक्ष्मी।'' अरे भाई! सिंह शावक का जंगल के जानवर मिलकर राज्याभिषेक नहीं करते हैं-वन-प्रान्तार पर आधिपत्य वह अपने पराक्रम से जमाता है। मेरी समझ से कर्मठता का यही पाठ तो गीता की अमूल्य निधि है, गीता का उच्चतम नैतिक दर्शन है। 'क्लैव्यं मा स्म गम: पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते''[२] इस उपदेश द्वारा अर्जुन के माध्यम से विश्वगुरू कृष्ण सम्पूर्ण मानव संस्कृति को कर्मठता का, कार्य के प्रति निष्ठा का यहाँ तक कि शरीर श्रम करने वाले मजदूर वर्ग के प्रति भी प्रेम, सहयोग एवं संवेदनशीलता का संदेश देते हैं। जब तक कर्म के प्रति इस निष्ठा का भाव हमारे अन्दर नहीं पैदा होगा तब तक वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन से दरिद्रता समाप्त भी नहीं हो सकती। देश की युवा शक्ति को गीता के इसी कर्मयोग की याद दिलाते हुये आचार्य श्रीराम शर्मा का मन्तव्य है-''मित्रों! हममें से जो आदमी परिश्रम करता है उसको हम भाग्यहीन समझते हैं। उसको हम अछूत समझते हैं, छोटा समझते हैं और बेकार समझते हैं और जो आदमी हराम की रोटी खाता है, जो आदमी आराम से कुरसी पर पंखे के नीचे बैठा रहता है उसको हम मालदार समझते हैं, भाग्यवान समझते हैं। वास्तव में दरिद्र कौन है, दरिद्रता कहाँ रहती है। दरिद्रता बेटे हमारे दिमाग में रहती है। दरिद्रता किसे कहते हैं? जिसमें हमें काम करने से नफरत है। हर आदमी को काम करने से नफरत है। जब तक हमारे देश में यह स्वभाव रहेगा, जब तक यह मानसिकता रहेगी, तब तक दरिद्रता हमारे देश से नहीं जा सकती।''[३]

स्पष्ट है अकर्मण्यता, दरिद्रता की जननी है और दरिद्रता समस्त पापों का मूल। 'बुभुक्षित: किम् न करोति पापम्।'' दरिद्र क्या दान करेगा? अत: यदि हमें पापों से त्राण पानी है तो दरिद्रता से मुक्ति चाहिये और दरिद्रता से मुक्ति के लिये समृद्धि के राजपथ के काँटे को अपने परिश्रम की कुल्हाड़ी से स्वयं साफ करना होगा। राष्ट्र की जीवनी शक्ति को झकझोरते हुये युग ऋषि कहते हैं-कर्मयोग और कुछ नहीं बल्कि प्रयत्न और पुरुषार्थ का दूसरा नाम है। इसी कर्मयोग के बल पर आज जापान दुनिया का मुकुटमणि बना हुआ है।

आइये, गीता के कमयोग के इस नैतिक दर्शन के आन्तरिक रहस्य को भी समझने का प्रयास करें-कर्मयोग के सम्बंध में प्राय: दो ही प्रश्न पैदा होता है-१. किस प्रकार का कर्म करना चाहिये, २. उसे करने की यथार्थ विधि क्या है? प्रथम प्रश्न के उत्तर में गीता कहती है-

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।"[४]

इसलिये कौन सा कर्म करना चाहिये और कौन सा कर्म नहीं करना चाहिये, इसका निर्णय करने के लिये तुम्हारे पास शास्त्र ही प्रमाण है। इस विषय में शास्त्र की आज्ञा मानकर तुम्हें उसी के अनुसार कर्म करना चाहिये। प्रारब्ध कर्मों के संस्कार इस जन्म में वासनारूप से हमारे चित्त में मौजूद है और बहुधा हमें अनुचित कर्म करने के लिये प्रेरित करते हैं। इच्छा और आसक्ति से मुक्ति होने का एक मात्र उपाय है शास्त्र विहित कर्म करना। क्योंकि शास्त्रोक्त विधि निषेध का पालन करने के लिये मन को काबू में रखने और उन कर्मों से बचने की आवश्यकता है जिनकी तरफ हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अरे भाई, पानी ढाल की ही तरफ बढ़ता है-काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य की तरफ बढ़ने के लिये न तो किसी पूर्व योजना की आवश्यकता होती है और न ही अभ्यास की। इसीलिये इन दुष्प्रवृत्तियों से बचने के लिये शास्त्र विहित कर्मों का विधान गीता में किया गया है।

कर्त्तव्य कर्मों को करने की विधि के सम्बन्ध में गीता के उपदेश बहुमूल्य ही नहीं अपितु संसार के धार्मिक साहित्य में अनूठे और अद्वितीय है।[५] गीता तो कर्त्तव्यशास्त्र ही है। मानव जीवन में उत्पन्न होने वाली विभिन्न परिस्थितयों का चिंतन कर गीताकार ने मानवीय कर्त्तव्य की जो मीमांसा प्रस्तुत की है वैसा विश्व साहित्य में दुर्लभ है। वस्तुत: कर्मफल की आकांक्षा या आसक्ति ही हमारे समस्त दु:खों का मूल कारण है। इसलिये इस आसाक्ति का परित्याग कर स्वयं को निमित्त मात्र मानते हुये भगवान को समर्पित करके कर्म करना चाहिये यही गीता के आचार दर्शन का मूल रहस्य है।

तदासक्त: सततं कार्यं कर्म सामाचर
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमात्नोति पूरुष:[६]
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति य:
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा:[७]

मनुष्य प्रकृति में अनेक विशेषतायें भरी पड़ी हैं देवता और पशुत्व दोनों ही इसके अन्दर समाहित और सन्निहित होता है, चूँकि मनुष्य का विकास पशु से देवता की ओर होता है, इसलिये मन पशुता वाले व्यवहार में अधिक

सहजता अनुभव करता है। मन के इसी स्वरूप पर प्रकाश डालते हुये गीता नायक कृष्ण कहते हैं-चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।[८]

इस निकृष्ट क्षेत्र सेउत्कृष्ट क्षेत्र की ओर मन की पसंद को रूपान्तरित करना बड़ा कठिन होता है, परन्तु यह असम्भव नहीं है। निरन्तर प्रयास और अभ्यास के द्वारा निकृष्ट चीजों में रुचि रखने वाला व्यक्ति उत्कृष्ट चिंतन में रम सकता है। यह कार्य एकाएक नहीं होता। बड़े ही धैर्य और सावधानीपूर्वक इसे किया जाता है। मन को साधना बड़ा कठिन होता है परन्तु सच्ची साधना द्वारा इसे साधा जा सकता है। परिणामतः व्याघ से बाल्मीकि में मानवीय चेतना का रूपान्तरण हो सकता है। मन की साधना द्वारा वह नर से नारायण और मायोपहित छुद्र जीव से मायापति के स्तर को प्राप्त कर सकता है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण चगृहयते।[९]

मानवीय कर्त्तव्य निर्धारण के समक्ष केवल काम, क्रोध, लोभ, मोह जैसी बाधाये ही नहीं हैं बल्कि जीव मायोपहित होने के कारण कर्त्तव्यपंथ से विमुख होकर स्वयं को जाति, धर्म, रूप, रंग, लिंग, भाषा, वेशभूषा आदि की सीमितताओं और वर्जनाओं में बाँध लेता है। अपने और पराये की इसी सीमा में सिसकते हुये उसकी कर्त्तव्यचेतना अन्ततः दम तोड़ देती है। परिणामतः वह अपनी ब्रह्म स्वरूपता को विस्मृत कर क्षुद्र संसारी जीव के रूप में व्यवहार करने लगता है। उल्लेखनीय है कि जीवन और जगत के इसी यथार्थ स्वरूप का अनुसंधान भारतीय मनीषा का प्रमुख गवेष्य विषय रहा है।

मनुष्य के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशन करते हुये वेदान्त कहता है-तत्वतः मनुष्य रूप, रंग, लिंग, भाषा-वेशभूषा से परे ब्रह्म स्वरूप है। अज्ञानता के कारण वह बाँध लेता है स्वयं को जागतिक मोहपाश में। धर्म, जाति, रूप, रंग, लिंग की क्षुद्ध सीमितता में। ऐसे माया-मोह में आसक्त विषयी मनुष्यों को ऋषि निर्देशित करता है-

अत्रात्म बुद्धिं त्यज मूढ़ बुद्धे त्वङमांस मेदोऽस्थिपुरीष राशौ
सर्वात्मनि ब्रहमणि निर्विकल्पे कुरुष्व शान्तिं परमांभजस्व।''[१०]

नैतिक आचार का उपदेश करते हुये भगवान कृष्ण गीता में मनुष्य को इन्हीं सीमितताओं और वर्जनाओं से ऊपर उठकर समस्त जीव जगत में स्वयं को और स्वयं में समस्त जीव जगत की दिव्य व्यावहारिक दृष्टि का संदेश देते हैं-सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि[११]

गीता के इस परमात्म नैतिक भाव की व्याख्या करते हुये श्रीराम शर्मा का लेख है-''इष्टदेव सर्वव्यापी और न्यायमूर्ति हैं, घट-घट में कण-कण में समाये हैं। अपने रोम-रोम में भीतर और बाहर उन्हीं की सत्ता ओत-प्रोत है। तिल भर भी ऐसी जगह नहीं जहाँ वे न हों। हर जड़ चेतन पदार्थ में अपने समीपवर्ती और दूरवर्ती वातावरण में उन्हीं का प्रकाश जगमगा रहा है। उन्हें हर जगह हम देख सकते हैं और वे हर पदार्थ में से अपनी सहस्र आँखों द्वारा हमारे बाह्य और अंतरंग स्तर को वारीकी से देखते रहते हैं। हमारा कोई कृत्य, कोई विचार कोई भाव उनसे छिपा नहीं रहता। यह अनुभूति हमारी निरन्तर प्रगाढ़ होती रहनी चाहिये। जितना अधिक यह भाव गहरा होगा उतना ही हमारी उपासना में प्राण आ जायेगा। हम स्वयं अनुभव कर सकेंगे कि हम अपनी इष्ट-आराधना से वार्तालाप कर रहे हैं। वे हमारी अंत:सत्ता को निर्मल बनाते जा रहे हैं।

इस कर्त्तव्य पंथ पर चलना दुधारी तलवार पर चलने के समान है। कर्त्तव्य का पालन करते समय संभव है संसार वैरी हो जाय परिणमस्वरूप विरोधों का सामना करते-करते व्यक्ति अकेला और असहाय हो जाय। ऐसे में वह कर्त्तव्यपंथ से च्युत भी हो सकता है। या आत्महत्या का मार्ग वरण कर सकता है। परन्तु जगतगुरू कृष्ण के रहते वह अकिंचन या निरीह कैसे? भगवान ऐसे भक्त की स्वयं रक्षा करते हैं और घोषणा करते है कि ऐसे भक्त का कभी विनाश नहीं होता-

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयिपश्यति

तस्माहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति[१२]

गीता का यही नैतिक संदेश तो कर्त्तव्यंथ पर बढ़े हुये पथिक को संसार के झंझावातों में, विपरीत परिस्थितियों में दैवी संबल प्रदान करता है। इतना महान नैतिक संदेश और आध्यात्मिक आश्रय (सहारा) गीता के सिवा विश्व के किसी दर्शन में उपलब्ध नहीं है। 'योगक्षेमं वहाम्यहम' का गीता का दिव्य संदेश प्राणिमात्र को भगवत्चेतना की दिव्य अनुभूति कराता है और उसे प्रतिपल कर्तव्यपंथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा और शक्ति देता है। भला इससे ज्यादा और क्या नैतिक सहारा दिया जा सकता है जब स्वयं योगेश्वर कृष्ण कहते हैं-''मैं तुम्हारे लिये सारी व्यवस्था कर दूँगा, तुम मुझसे अनन्य भाव से जुड़ो तो सही।''

इस अनन्य भाव की व्याख्या करते हुये युग ऋषि श्रीराम शर्मा का लेख है-''अनन्य भाव से अर्थ है पूरी तरह परमात्मा में घुल जाना। फिर कोई अन्य न आने पाये। अन+अन्य-अन्य कोई नहीं। अन्य अर्थात् भौतिकवादी लालसा, भोग की कामना, तृष्णा, पद की आकांक्षा ये सभी अन्य हैं जो आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हैं। विराट का अनुभव पाना है तो मन को सांसारिकता से उबारना ही पड़ेगा। शुभ, अशुभ के दायरे को लाँधकर परमात्मा की कक्षा में प्रवेश कर

जाना हर किसी के बूते नहीं होता। भक्त कहता है कि हम कर्म करेंगे पर भगवान के निमित्त करेंगे। हर कर्म में मात्र उन्हीं को सोचेंगे। अपना सब कुछ उन्हीं को समर्पित करेंगे। यही हैं अनन्य भाव। ''जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नाहि। प्रेम गली अति साँकरी जामे दो न समाय। कबीर की भाषा में यह है भक्त का मैं।[१३]

भगवद्गीता के १६वें अध्याय में आसुरी और दैवी सम्पदा के रूप में मनुष्य के समस्त नैतिक कर्त्तव्यों का विधि-निषेध के रूप में गम्भीर विवेचन 'गीता' को कर्त्तव्यशास्त्र के रूप में स्थापित ही कर देता है। दैवी सम्पदा को धारण करने वाला व्यक्ति संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है, जबकि राक्षसी और आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति आवागमन के चक्र में बार-बार पड़ता हुआ मायाग्नि में झुलसता रहता है। अंत में आसुरी सम्पत्ति को सार रूप में बताते हुये जगत्गुरू कृष्ण सम्पूर्ण मानव प्रजाति को अनैतिक कार्यों के वर्जन (त्याग) और नैतिक कार्यों के आचरण का संदेश देते हैं। आत्मा का नाश करने वाले ये तीन प्रकार के दोष नरक प्राप्ति के द्वार है। ये मनुष्य के कल्याण पथ के कंटक हैं। जिनको धारण करने से मनुष्य के अध:पतन में क्षणमात्र भी समय नहीं लगता। इनमें प्रवेश करने मात्र से ही आत्मा नष्ट हो जाता है। काम, क्रोध और लोभ, कल्याण चाहने वाले मनुष्य को इन तीनों का परित्याग कर देना चाहिये। इस तरह सार रूप में मनुष्य के कर्त्तव्यों और अकर्त्तव्यों का विवेचन गीता के आचार दर्शन को एक महान दर्शन की कोटि में प्रतिष्ठित कर देता है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मन:

काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत।[१४]

देखना है भौतिक दाहदग्ध मानव संस्कृति गीता के इस नैतिक दर्शन के आलोक में अपने योगक्षेम की कितनी साधना कर पाती है।

संदर्भ सूची

१ श्रीमद् भगवद्गीता-भूमिका, गीता प्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)
२ वही, २/४ गीता प्रेस गोरखपुर (उ.प्र.)
३ अखण्ड ज्योति, अगस्त २०१३, पृ.५६, अखंड ज्योति संस्थान, मथुरा
४ श्रीमद् भगवद्गीता-गीत प्रेस गोरखपुर
५ कल्याण-योगांक, गीत प्रेस गोरखपुर, **पृ.५९०**
६ श्रीमद्भगवद्गीता ३/१९ गीत प्रेस गोरखपुर
७ वही, ५/१०
८ वही, ६/३४
९ वही, ६/३५
१० विवेक चूडामणि श्लोक सं. १६३ गीत प्रेस गोरखपुर
११ श्रीमद्भगवद्गीता ६/२९ गीत प्रेस गोरखपुर

१२ वही ६/३०
१३ अखण्ड ज्योति फरवरी २०१०, पृ.५८ अखंड ज्योति संस्थान, मथुरा
१४ गीता प्रेस गोरखपुर, १६/२१